

श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन्मुक्तपुरुष का स्वरूप

डॉ. राजकुमार

शोध-छात्र (डी0लिट0) संस्कृत विभाग, बी0एस0ए0 कॉलेज, मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

सार

जीवात्मा सृष्टि के अनादिकाल से तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान) के अभाव में अपना कर्मफल भोगने के लिये चौरासी लाख यौनियों में आवागमन के चक्र में फंसकर नाना प्रकार के दुःखों (यथा-जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु आदि) से ग्रसित होता चला आ रहा है, इसके दुःखों का कहीं भी अन्त नहीं है; परन्तु तत्त्व ज्ञान ही मात्र इनसे मुक्ति प्राप्त करने का प्रमुख उपाय है। स्व-स्वरूप से अभिन्न, अखण्ड-ब्रह्मज्ञान के द्वारा आत्मविषयक सम्पूर्ण अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूप से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने से अज्ञान और उसके कार्यरूप स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रपंच संचित कर्म तथा संशय-विपर्यादि को नष्ट करके, सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ-व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त पुरुष को श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ, धीरमुनि, संयमी, कर्मयोगी, समदर्शी तथा त्रिगुणातीत आदि कहा गया है। यह शोध पत्र विज्ञानों को जीवन्मुक्त पुरुष के स्वरूप के विषय में अवगत करायेगा।

प्रस्तावना

जीवात्मा सृष्टि के अनादिकाल से तत्त्वज्ञान(आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान) के अभाव में अपना कर्मफल भोगने के लिये चौरासी लाख यौनियों में आवागमन के चक्र में फंसकर नाना प्रकार के दुःखों (यथा-जन्म,जरा,व्याधि तथा मृत्यु आदि) से ग्रसित होता चला आ रहा है,इसके दुःखों का कहीं भी अन्त नहीं है;परन्तु तत्त्व ज्ञान (आत्म ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान)ही मात्र इनसे मुक्ति प्राप्त करने का प्रमुख उपाय है। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारास्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणिसाक्षात्कृतेऽज्ञानतत्तत्कार्यसंचित कर्म संशयविपर्यादिनामपि बाधितत्वादखिलवाधरहितो ब्रह्मनिष्ठः। तदुक्तम् - भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।¹ अर्थात्- स्व-स्वरूप से अभिन्न, अखण्ड-ब्रह्मज्ञान के द्वारा आत्मविषयक सम्पूर्ण अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूप से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने से अज्ञान और उसके कार्यरूप स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रपंच संचित कर्म तथा संशय-विपर्यादि को नष्ट करके, सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ-व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।जैसा कि भगवती श्रुति भी कहती है-उस कारण-कार्यरूप "ब्रह्म" का साक्षात्कार होने पर साधक की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर क्रियमाण तथा संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह जीवात्मा जब भगवत्कृपा से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसके इन्द्रिय विषय वासना जनित समस्त प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है²और वह सशरीर त्रिविध तापों (आध्यात्मिक,आधिदैविक तथा आधिभौतिक) व समस्त प्रकार के सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, आध्यात्मिक जगत् में ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्तपुरुष की संज्ञा दी जाती है।राजा जनक,राजा हरिश्चन्द्र, राजा शिवि, राजा मोरध्वज, राजा भर्तृहरि, भक्तध्रुव, भक्त प्रह्लाद, प्रह्लादपुत्र विरोचन, राजा बलि, महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध, जगत् गुरु शंकराचार्य, संतरविदास,मीराबाई महर्षिदयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद आदि जीवन्मुक्त पुरुषों के

उदाहरण हैं। जीवन्मुक्त पुरुष को श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ, धीरमुनि, संयमी, कर्मयोगी, समदर्शी तथा त्रिगुणातीत आदि कहा गया है। जब पुरुष मन में स्थित समस्त प्रकार की कामनाओं का त्यागकर आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।³ इसी प्रकार जगत्गुरु शंकराचार्य जी ने कहा है-स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते। ब्रह्मण्येव विलीना निर्विकारो विनिष्कयः।।⁴ स्थितप्रज्ञ की बुद्धि सदा ब्रह्म में लीन रहती है तथा विषयों को क्रिया एवं वाणी से त्याग देता है और नित्य ब्रह्मानन्द रस का पान करता है।

दुःखेषुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।⁵

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में कोई उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं वह धीरमुनि कहलाता है।जैसे कूर्म (कछुवा) अपने ऊपर किसी बाह्य आक्रमण के भय से अपने अंगों को अपने में ही सिमेट लेता है, उसी प्रकार यह इन्द्रियों के विषयों से अपनी समस्त इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है-

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वषः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।⁶

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जो रात्रि के समान है,उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में वह (संयमी योगी) जागता है और जिस नाषवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में समस्त प्राणी जागते हैं उसके लिये यह रात्रि के समान है। जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुये ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग उस जीवन्मुक्त पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं। वह पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहंकार रहित और स्पृहारहित होकर विचरता है।⁷ जीवन्मुक्त पुरुष की समस्त आषायें गल जाती हैं और वह ममतारहित, अहंकार शून्य कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।⁸

पथ्यञ्छृवन्स्पृषंजिघ्रन्ञ्जन् ग्रहणन्वदनव्रजन्।

ईहितानीहितैमुक्तो मुक्त एव महाशयः।।⁹

वह देखता हुआ,सुनता हुआ,स्पर्श करता हुआ,सँघता हुआ,खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ,बोलता हुआ,चलता हुआ हित और अहित से सदा मुक्त ही है।इस पुरुष की दृष्टि सम हो जाती है,श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे पुरुष को समदर्शी कहा गया है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।¹⁰

यह पुरुष विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी होता है। इसे सृष्टि में कहीं भी भेद दिखायी नहीं देता है—

सुखे दुःखे नरे नार्या सपत्सु च विपत्सु च ।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥¹¹

उसकी दृष्टि में सुख—दुःख, नर—नारी, और सम्पत्ति—विपत्ति में कहीं कोई भेद नहीं है। वह प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में स्थित मृत्यु को देखकर अविचलमना और स्वस्थ रहता है।¹² वह संसार के कार्यों में कभी आसक्त नहीं होता, उसके सभी कार्य यथावत् चलते रहते हैं, उसकी समस्त विषय—भोगों के प्रति वासना समाप्त हो जाती है, वह केवल शरीर रक्षणार्थ जितना आवश्यक है उतना ही ग्रहण करता है, इसीलिये उसके कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। मनुष्य को वर्तमान शरीर प्रारब्धवश मिला है, जिसकी एक निश्चित अवधि होती है। इस अवधि की समाप्ति पर ही यह छूटेगा। आत्मज्ञानी इस शरीर रूपी नौका का उपयोग करके जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करता है। इस अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के बाद शरीर की उसके लिये कोई उपयोगिता नहीं रहती; इसी कारण वह इसे नष्ट भी नहीं करता। स्वयं नष्ट करना भी इच्छा एवं वासना ही है जो ईश्वरीय नियमों के विपरीत है। वह इसके समाप्ति के समय की प्रतीक्षा मात्र है। तब तक वह इसे छाया के समान मानकर इसे मैं का स्वरूप न मानते हुये जीवनयापन करता है; जैसा कि सांख्य कारिका के 67 वें श्लोक से विदित होता है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादिनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिव दधत शरीरः ॥¹³

तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के कारण उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जिस प्रकार पूर्व में दी गयी गति के कारण कुम्हार का चाक घूमता रहता है। जीवन्मुक्त पुरुष कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो जाता है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥¹⁴

यह पुरुष तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्द परमात्मा को तत्त्व से जरन लेता है। यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप इन तीन गुणों का उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। यह पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी अकांक्षा करता है। वह साक्षी के सदृश स्थित गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणा में बर्तते हैं ऐसा समझता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव में स्थित रहता है एवं उस स्थिति से वह कभी विचलित नहीं होता। वह निरन्तर आत्म भाव में स्थित सुख दुःख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, प्रिय तथा अप्रिय को एक समान मानने वाला और अपनी निन्दा स्तुति में भी समान भाव वाला होता है।¹⁵

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥¹⁶

वह सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यान योग से युक्त अन्तःकरणवाला, अपने स्वरूप को सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है और समस्त प्राणियों को अपने शरीर में स्वरूप में देखता है। मुक्त पुरुष आत्म तत्त्व को पूर्ण रूप से जान लेता है इसका कारण है कि उस पर ज्ञान की छाप पूर्णतया पड़ी रहती है। यथा कोई नदी समुद्र में समाकर उसके साथ एकरस हो जाती है ठीक उसी प्रकार मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ एक रस होकर उसका सान्निध्य प्राप्त करता है। नालिका यंत्र पर से छूटकर तोता वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है ठीक वैसे ही मुक्त पुरुष माया से छुटकारा पाकर 'अहंब्रह्मामि' के मूल अहं तत्त्व पर स्थित हो जाता है। इसका कारण है कि जीव अब तक अज्ञानरूपी निद्रा में सो रहा था। वही अब आत्म स्वरूप का बोध प्राप्त करके जाग उठा है। जिस समय भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाला मोहरूपी दर्पण उसके हाथ से गिर पड़ता है उस समय उसे प्रतिविम्बाभास कभी हो ही नहीं सकता, जिस समय देहाभिमानरूपी वायु के वेग बन्द हो जाते हैं; उस समय तरंगों और सागर के सदृश जीव और शिव दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं यथा वर्षाकाल के अन्त में मेघ आकाश में लीन हो जाते हैं; ठीक वैसे जीवात्मा ब्रह्म तत्त्व में समाकर तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मभाव की उपलब्धि हो जाने पर यदि वह शरीर के समाप्त होने पर्यन्त इस शरीर में रहता है, तो भी शरीर से उत्पन्न होने वाले गुणों की बातों के चक्कर में वह कभी नहीं पड़ता। जैसे—काँच अथवा अबरक के आच्छादन से दीपक का प्रकाश कभी भी अवरुद्ध नहीं किया जा सकता अथवा समुद्र के जल से जैसे बड़वाग्नि कभी भी शान्त नहीं की जा सकती वैसे ही गुणों के संचरण के कारण जीव का बोध मलिन नहीं हो सकता। जैसे आकाश का चन्द्रमा जल में भी प्रतिविम्बित होने पर भी जल से सदा निर्लिप्त रहता है, वैसे ही चाहे वह शरीर में निवास करता हुआ भले ही दृष्टिगोचर हो, पर फिर भी उसमें शरीर के धर्म नहीं लगते। तीनों गुण अपनी अपनी सामर्थ्य से शरीर के स्वांग प्रस्तुत कर उसे नचाते रहते हैं; परन्तु मुक्त पुरुष उनकी तरफ दृष्टि डालने के लिये कभी भी भूलकर अपना 'अहं ब्रह्मामि' वाला भाव पल भर के लिये अपने से पृथक् नहीं करते। उसके अन्तःकरण में आत्मस्वरूप का निश्चय इतना प्रबल होता है कि उन्हें कभी इस चीज का ज्ञान भी नहीं होता कि हम इस शरीर में रहकर कुछ करते भी हैं अथवा नहीं। जब सर्प एक बार अपनी केंचुली का परित्याग कर अपने बिल में प्रवेश कर जाता है, तब फिर उस केंचुली का वह भला ध्यान कब रखता है? जब कोई सुगन्धित कमल प्रस्फुटित होता है, तब उसकी पूरी सुगन्ध आकाश में मिलकर लीन हो जाती है और फिर वह कभी उस कमल कोश में लौटकर वापिस नहीं आती। इसी प्रकार जिस समय ब्रह्म का सारूप्य प्राप्त हो जाता है, उस समय इस बात का ध्यान नहीं रहता कि देह क्या है और इसके धर्म क्या हैं। इसीलिये देह के जन्म—जरा इत्यादि जो शङ्कण हैं वे देह में ही विद्यमान रहते हैं और मुक्त पुरुष के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस समय घट टूट—टूट कर छोटे—छोटे टुकड़ों के रूप में हो जाय, उस समय यही जान लेना चाहिये कि घटाकाश अपने आप तत्क्षण महदाकाश में मिलकर उसी का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब देहाभिमान नष्ट हो जाय तब भला उस आत्म स्वरूप के अलावा और क्या अवशिष्ट रह सकता है? इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्म बोध से युक्त होकर जो वह देह में विद्यमान रहता है बस इसी से उसे त्रिगुणातीत कहा जाता है

मानपमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥¹⁷

चाहे कोई उसकी पूजा ईश्वर बुद्धि से करे और चाहे चोर कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे वृषभों और गजों के समूह में रखे और

चाहे राजा बना दे चाहे उसके सन्निकट मित्र मण्डली इकट्ठी हो और चाहे शत्रुओं का समूह उसे घेर ले, तो भी उसका चित्त उसी तरह कभी विषमता से मलिन नहीं होता जिस तरह सूर्य के तेज के लिए न तो कभी रात्रि ही होती है और न कभी सबेरा ही होता है अथवा षड-ऋतुओं के आने जाने पर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है उसमें आचार का एक और लक्षण दृष्टगत होता है कि उसे इस बात का कभी ज्ञान ही नहीं होता है कि वह कोई कार्य कर रहा है। वह कर्मों का त्याग कर देता है और प्रवृत्ति का उन्मूलन कर डालता है। उसके सारे कर्मफल जलकर भस्म हो जाते हैं, क्योंकि अपने ज्ञान के कारण वह स्वयं अग्नि तुल्य हो जाता है। लौकिक अथवा पारलौकिक इच्छा उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होती, इसलिए उसे स्वभाविक रूप से जो प्राप्त हो जाता है, उसे उदासीनतापूर्वक स्वीकार कर लेता है। बुरा यदि दुःख का कारण बनता है तो अच्छा भी दुःख का कारण बन जाता है, ये दोनों ही बन्धन के कारण हैं संसार में इसी कारण कोई भी दुःखों से मुक्त नहीं है। स्वयं इन्द्र भीवासनाग्रस्त है, वह भी सुखी नहीं है। उसे भी दैत्यों की चुनौती बनी रहती है। जिससे उसे भी छल प्रपंच करने पड़ते हैं। चक्रवर्ती राजा भी कामनाओं के कारण सदा दुःखी रहता है। सुखी तो केवल वह जीवन्मुक्त पुरुष ही है, जिसकी समस्त कामनायें छूट चुकी हैं, जिसकी कोई वासना नहीं, जो हर परिस्थिति से सन्तुष्ट है, जिसका किसी से कोई राग नहीं क्योंकि राग से ही द्वेष पैदा होता है। वह वीतरागी है और वह सबसे सुखी है क्योंकि वह ब्रह्म रस का पान करके तृप्त हो गया है—

नित्यं ब्रह्म रसं पीत्वा तृप्तो यः परमात्मनि ।
इन्द्रं च मन्यते रंकं नृपाणां तत्र का कथा ॥¹⁸

वह इन्द्र को भी गरीब मानता है अन्य राजाओं की तो बात ही क्या? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अपने निकट सुन्दर स्त्री और मृत्यु को देखकर अपने कर्तव्य-पथ से विमुख हो जाते हैं। उनका सारा तप-शक्ति और साधना, नारी और मृत्यु के सम्मुख धरी रह जाती है। वे आजीवन आसक्ति और भय से मुक्त नहीं हो पाते हैं; परन्तु मुक्त पुरुष का स्वभाव अद्वितीय होता है, उसे न नारी का सौन्दर्य मोहित कर सकता है और ना ही मृत्यु की विकरालता भयभीत कर पाती है—

सानुरागां स्त्रियं द्रष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाषयः ॥¹⁹

रजोगुण की रंगत चढ़ने पर देह में कर्म के अकुर उत्पन्न होते हैं और जीव प्रवृत्तियों से घिर जाता है। उस दशा में जिस व्यक्ति को इस प्रकार का अभिमान छू भी नहीं सकता कि एकमात्र में ही कर्म करने वाला हूँ अथवा कर्मों के निष्फल होने पर भी जिससे कोई क्लेश नहीं होता अथवा जिस समय सत्वगुण की बुद्धि होने के कारण समस्त इन्द्रियों पर ज्ञान-तेज का प्रसार होता है, उस समय विद्याभिमान अथवा संतोष से जो अति प्रसन्न नहीं हो जाता अथवा तमोगुण बढ़ जाने पर भी मोहग्रसित नहीं होता और मन में अज्ञान का खेद नहीं करता, जो मोह के अवतार पर ज्ञान के लिए उत्कण्ठित नहीं होता तथा ज्ञान के अवसर पर कर्मों का त्याग नहीं करता और अपने द्वारा कर्म हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता, जो ठीक वैसे ही कोई भेद नहीं करता, जैसे सूर्य प्रातः मध्याह्न, और सायं— इन तीनों कालों का भेद नहीं करता, उस व्यक्ति में ज्ञान उत्पन्न करने के लिए भला किसी अन्य के ज्ञानरूपी प्रकाश की क्या आवश्यकता है? समुद्र को भरने के लिए क्या कभी वर्षा-ऋतु की आवश्यकता हुआ करती है? अथवा यदि वह कर्म करें तो भी क्या कभी कर्मउता उसके साथ संलग्न हो सकती है? हिमालय भी

क्या कभी अपनी टंडक से कांपता है? अथवा मोह का अवसर मिलने पर क्या कभी वह ज्ञान का त्याग कर सकता है? इसी प्रकार इन गुणों का कार्य भी स्वतः ही होता है वे आत्म सत्तात्मक है। यही कारण है कि वह उन गुणों के विवेचन के चक्कर में नहीं पड़ता। उसे इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिए वह इस शरीर का ठीक वैसे ही आश्रय लेता है, जैसे कोई बटोही रास्ता चलते समय रास्ते में ही किसी स्थान-विशेष पर कुछ काल के लिये रुक जाता है। जैसे युद्ध-भूमि जय और पराजय में शामिल नहीं होता, वैसे ही वह भी लाभ-हानि का हिस्सेदार नहीं होता और न तो वह गुणों के साथ मिलता ही है और न कर्तव्य को ही स्वीकार करता है। जैसे शरीरस्थ प्राण अथवा किसी के घर में अतिथि के रूप में रहने वाला ब्राह्मण अथवा चौराहे पर स्थित खम्भा अपने अलग-बगल की बातों सदा उदासीन रहता है, वैसे ही मुक्त पुरुष भी अपने शरीर में एकदम उदासीन भाव से मनमाने उपद्रव से वह ज्ञानी व्यक्ति भी अस्थिर नहीं होता। बहुत कहाँ तक कहे पवन के वेग से आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता तथा अन्धकार से सूर्य को कभी ढका नहीं जा सकता। जागते हुए व्यक्ति को स्वप्न कभी धोखा नहीं दे सकता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को गुण कभी भी बांध नहीं सकते। वह कभी गुणों के अधीन नहीं होगा परन्तु जब तटस्थ होकर दूर से ही उनकी तरफ देखता है, तब उसके गुणों का अवलोकन ठीक वैसे ही होता है, जैसे नाट्यशाला के दर्शक तटस्थ होकर पुत्तलिकाओं का नृत्य देखते हैं। शुद्ध कर्मों में सत्वगुण, विषय-सम्बन्धी कर्मों में रजोगुण तथा मोह एक मात्र आत्मव्य की सत्ता से होता है उदाहरण स्वरूप सूर्य लोगों के समस्त क्रिया-कलापों का संचालन तो करता ही है, परन्तु उन सबको वह तटस्थ रहकर देखता है अथवा जब चन्द्रोदय होता है, तब समुद्र में बाढ़ आती है, सोमकान्तमणि द्रवित होने लगती है और कमल खिलते हैं; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे बहे अथवा शान्त रहे, किन्तु आकाश की निश्चलता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार गुणों के संसर्ग के कारण भारी भारी संकट पड़ने पर ज्ञानी (मुक्त पुरुष) व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता।²⁰ जीवन्मुक्त पुरुष भारी से भारी संकट पड़ने पर कभी विचलित नहीं होता। इसका उदाहरण स्वयं जनक जी है। एक वार मिथिला में आग लग गयी और उनके पास समस्त मिथिलापुरी वाले आये और उनसे कहा महाराज मिथिला नगरी जल रही है बचाने का कुछ उपाय कीजिए। तब उन्होंने उनसे कहा—

अनन्तं बत्त मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते ॥²¹

मेरे पास आत्मज्ञान रूप अनन्तधन है, अतः अब मेरे लिए कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, इस मिथिला नगरी के जल जाने पर मेरा कुछ नहीं जलेगा।

अयंतुव्युत्थानसमयेमांसशोणितमत्रपुरीषादिमाजनेन शरीरेणान्धयमान्धापटुत्वादिभाजनेनन्द्रियग्रामेणशनापिपासाशोक मोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारवधशफलानि च पश्यन्पि बाधित त्वात्परमार्थतोनं पश्यति। यथा—इन्द्र जालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्पि परमार्थमिदमिति न पश्यति।¹ स चक्षुरचक्षुरिव सकणोऽकर्ण इव इत्यादि श्रुते। उक्तं च—सुषुप्तवज्जाग्रति यान पश्यति। द्वयं च पश्यन्पि चादवयत्वतः। तथा च कुर्वन्पि निष्क्रियश्च यः। स आत्मविन्नान्य इति ह निश्चयः ॥²²

अर्थात्— व्युत्थान-दशा (जाग्रतवस्था) में तो यह जीवन्मुक्त व्यक्ति, रक्त-मांस मल-मूत्रादि के पात्रभूत इस शरीर से, अन्धत्व, मान्द्य, अपटुत्वादि के पात्रभूत इन्द्रियसमूह से— भूख-प्यास, शोक-मोहादि के पात्र भूत इस अन्तःकरण से तथा पूर्ववर्ती वासनाओं के कारण

किये जाते हुए क्रियमाण कर्मों को एवं प्रारब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी, वस्तुतः उसी प्रकार नहीं देखता हैं, जैसे – इन्द्र जाल का खेल, देखने वाला व्यक्ति उस खेल को (यह वास्तविक नहीं है, यह तो जादूमात्र है ऐसा समझने के कारण) देखता हुआ भी नहीं देखता है। वह नेत्रयुक्त होते हुए भी नेत्रहीन के समान तथा श्रोतयुक्त होते हुए भी श्रोतहीन के समान व्यवहार करता है। इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इस विषय में प्रमाण हैं। कहा भी गया है— जो सुषुप्तावस्था के समान जाग्रतावस्था में द्वैत को नहीं देखता (अथवा द्वैत को देखते हुए भी उसे अद्वैतरूप से देखता है) और कर्मों को कहते हुए भी क्रियाहीन रहता है वही आत्मवेत्ता कहा जाता है। इस (जीवन्मुक्त व्यक्ति) की ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के पूर्व वर्तमान आहार-विहार आदि की अनुवृत्ति के सदृश शुभ वासनाओं की अनुवृत्ति क्रियान्वित रहती है या शुभाशुभ दोनों के प्रति वह उदासीन हो जाता है, कहा भी गया है—जिसने यथार्थ रूप में अद्वैतत्व (ब्रह्मतत्त्व) को जान लिया है, ऐसा महापुरुष भी स्वेच्छाचारी हो जाय तो अपवित्र पदार्थ भक्षक कुत्ते का ब्रह्मज्ञानी में क्या अन्तर ? (ज्ञातव्य है कि) आत्मज्ञ व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान के अहंकार से मुक्त रहता है, अन्य लोग नहीं। अमानित्वादि सभी साधन तथा द्वेषहीनता आदि सभी सदगुण जीवन्मुक्त व्यक्ति पर आभूषण के समान सुशोभित होने लगते हैं। यह उनकी अपेक्षा नहीं रखता, फिर भी ये सदगुण अनायास ही जीवन्मुक्त पुरुष को अलंकरणवत् प्राप्त हो जाते हैं²³ जैसा कि सुरेश्वराचार्य जी ने अपने ग्रन्थ नैष्कर्म्यसिद्धि में लिखा है—

उत्पन्नात्मावबोधस्य हयद्वेष्टृत्यादयो गुणाः
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ।।

अर्थात् ब्रह्मज्ञान सम्पन्न जीवन्मुक्त पुरुष के दयालुता आदि गुण स्वाभाविक रूप से अनायास ही जीवनपर्यन्त अलंकरण के समान उसके साथ रहते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष इन गुणों की न तो अपेक्षा रखता है और न ही इनके सम्पादन का प्रयास करता है; अपितु वह तो यावज्जीवन अनासक्त भाव से प्रारब्ध कर्मों को फलोपभोगपूर्वक क्षीण करता रहता है।²⁴

इस पुरुष का अन्तःकरण उसके स्वयं के वष में होता है, वह न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले षरीररूप पुर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दधन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है तथा कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्ति रूप शक्ति को प्राप्त होता है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शन्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्²⁵

निष्कर्षतः उपरोक्त श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन्मुक्त पुरुष का स्वरूप के सन्दर्भ में दिये गये तथ्यों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि जीवन्मुक्त पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मस्वरूप) को प्राप्त कर आत्मा और परमात्मा के अभेद सम्बन्ध को जान लेता है और उसी में (आत्मा के परमानन्द में) रमण करता है। उसका चित्त धून्य हो जाता है अर्थात् उसका संसार बीज (आवागमन का कारण) नष्ट हो जाता है। वह अपने समस्त कर्मों को प्रारब्ध मानकर करता है तथा उसकी दृष्टि सम हो जाती है अर्थात् उसे संसार के समस्त प्राणियों में एक मात्र ब्रह्म तत्त्व ही दृष्टिगोचर होता है।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. वेदांतसार, 4
2. मुण्डकोपनिषद्, 2/2/8
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/55
4. विवेक चूड़ामणि, 9/427
5. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/56

6. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/55
7. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/55
8. अष्टावक्रगीता, 17/19
9. अष्टावक्रगीता, 17/19
10. श्रीमद्भगवद्गीता, 5/18
11. अष्टावक्रगीता, 17/15
12. अष्टावक्रगीता, 17/16
13. सांख्यकारिका, 67
14. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/51
15. श्रीमद्भगवद्गीता, 14/24
16. गीता प्रबोधिनी: (रामसुखदास), 6/29
17. श्रीज्ञानेश्वरी, 14/25
18. श्रीगुरुगीता 2/92
19. अष्टावक्रगीता, 17/14
20. श्रीज्ञानेश्वरी, 14/23
21. महाभारत: शान्ति पर्व/मोक्ष धर्मपर्व/129/62
22. वेदांतसार, 48
23. वेदांतसार, 49, 50
24. नैष्कर्म्यसिद्धि: (सुरेश्वराचार्य) 4/69
25. श्रीमद्भगवद्गीता, 5/12